अष्टम अध्याय
समाज शास्त्रीय इरोधे से सन्तों की रचनात्मक भूमिका की प्रासंगिकता।
समाज शास्त्रीय झरोखे से सांतों की रचनात्मक
भूमिका की प्रासंगिकता ।

ज्ञान - विज्ञान की एक सहज विकास की धारा मानव-विकास के साथ
चलती रहती है। मानव जीवन के संरचित विकास के साथ ये ज्ञान सरणियाँ संरचित
रूप में अग्रगामी रहती हैं। ज्ञान की एकान्तिति में जीवन के विविध विधाओं का
प्रतिफलन होता चलता है। हमारे देश में सारी विद्याओं धर्म में एकान्तित रही हैं। धीरे-
धीरे उनका विस्तार और पारंपरिक भी होता रहा है। जीवन की आवश्यकता के अनुकूल
विषय विशेष पर ध्यान भी दिया जाने लगा। जब किसी ज्ञान - विद्या और व्यवस्था का
विशेष अध्ययन होने लगा उससे सम्बंधित नियम एवं सिद्धान्त बनने लगे तब उस
विशेष विधा का शास्त्र गढ़ा जाने लगा। अब सामने आया धर्मशास्त्र, दर्शन शास्त्र,
काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र, भाषाशास्त्र, आधुनिक दार्शनिक, ज्योतिषशास्त्र आदि आदि।
पारंपरिक प्रमाण के धर्म मानवीय ज्ञान की अनेक शाखा-प्रशाखाएँ सामने आयीं और उनका
शास्त्रीयता से ज्यादा वैज्ञानिक अध्ययन होने लगा। अब मानव से और उसके समाज
से सम्बंधित विषयों का अध्ययन होने लगा। राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान
शास्त्र एवं समाजशास्त्र का विशेष अध्ययन होने लगा। इस अध्ययन में सारे शास्त्र
समाज से अन्वेषण थे, किन्तु सबका अलग-अलग अध्ययन भी होता था। आधुनिक काल
में समाजशास्त्र का अध्ययन अनेक विद्वानों से होने लगा। विद्वान एवं ग्रंथ विधियों भी
रहा किन्तु इस अध्ययन की अनिवार्यता प्रतिपादित हुई, क्योंकि हर व्यवस्था एवं ज्ञान
का प्रमाण अन्ततः समाज पर ही पड़ता है और समाज से हर मानवज्ञान की विधाओं
प्रभावित भी होती हैं। समाज व्यवस्था के इस लम्बे इतिहास में उसके होने वाले शास्त्र
का परिच्छेद कर लेना आवश्यक है। यदापि आज का समाजशास्त्रीय अध्ययन पश्चिम
से आनेवाला अध्ययन है जो व्यवहारिक एवं आमतौर पर आत्मिक, निर्देशनिक विचारधाराओं
के साथ थोड़े बहुत अन्तर में विविधता को लेकर चलता रहा है।

इस सन्दर्भ में डॉ. चाल्र्स ए. इलउड का नाम विशेष विश्वसनीय है। उनकी
रचना है 'Methods in Sociology' जिसका हिंदी अनुवाद शम्भुरतन त्रिपाठी ने 'समाजशास्त्र
की विधियों की श्रेष्ठ से किया। यहाँ उसी प्रण्य के आधार पर समाज के वैज्ञानिक एवं विश्वसनीय अध्ययन की प्रविधि का परिज्ञान किया जाएगा। एक समाजशास्त्री के कार्य को स्पष्ट करते हुए चार्ल्स ए इलवाड का विचार बड़ा ही पूर्ण एवं वैज्ञानिक लगता है। वे कहते हैं, "यहाँ पर वैज्ञानिक समाजशास्त्री शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया गया है, जिसके अन्तर्गत ऐसा कोई भी व्यक्ति आ सकता है, जो संसार को विश्वसनीय सामाजिक शिक्षान्त देने का प्रयास कर रहा है। ...... वैज्ञानिक समाज शास्त्रियों का कर्तव्य है कि वे यह आवश्यक विश्वसनीय ज्ञान संसार को दें। ...... ऐसी स्थिति में वैज्ञानिक ही मानव-समाज की आर्थिक, राजनीतिक और नैतिक परिस्थितियों के लिए उत्तरदायी हैं। उन्हें परस्पर आधारभूत वैचारिक सहमति के लिए सकारात्मक तथा विश्व की आशंकित अवस्था से मुक्त पाने का गर्व भी प्रदर्शित करना चाहिए।'1 निश्चय ही यह एक महान और विश्वसनीय व्यक्ति की बात यहाँ उठायी गयी है। साथ यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि अवस्था की किसी भी आशंका से मुक्त नहीं करना एक वैज्ञानिक समाजशास्त्री का दायित्व है कि वह अपने सामाजिक व्यवस्था के बीच व्यापक अन्याय-अत्याचार का विलोप करे और अच्छी व्यवस्था की खोज के लिए जनमानस तैयार करे। कबीर ने कहा था - 'साधु संगति बैकुंठधि आहि।' यहीं तो अवस्था से रहित समाज की कल्पना है।

वर्तुहः भक्ति कालीन संत आधुनिक समाजशास्त्रियों की तरह एक वैज्ञानिक धन्यत्क नहीं थे किन्तु मानवीय ध्वन्ति के प्रति पूर्ण प्रतिबद्धता थी। वे सामाजिक सत्य को बराबर उद्घाटित करते रहे हैं तथा तर्क के साथ गलत मान्यताओं को निर्धारित भी बनाते रहे हैं। इस प्रकार के तर्कपूर्ण विचार पिछले अध्ययनों में अनेक बार उद्धृत हुए हैं। कबीर कहते हैं कि उस माँ ने क्यों पैदा किया जबकि जीवन में कभी सुख ही नहीं पाया। मैं डाली - डाली भागता हूँ तो दुःख पत्ता-पत्ता दौड़ता है।

'जदि का माई जननिया, कबहूँ न पायो सुख।
डाली डाली मैं फिरूँ, पाती पाती दुःख।' कबीर

इस धर सामाजिक सत्य को उजागर करना निश्चय ही उनका व्यापक मानवीय

1. समाज शास्त्र की विधियों, अनुवादक : शम्भुरत त्रिपाठी, प. 20
दायित्व है। इन सन्तों की वैज्ञानिकता उनके अकादमी तकों में है। वे अपने तकनीक से सामाजिक व्यवस्था की अवधारणा को विश्वसनीय दंग से व्यक्त करते हैं। ब्राह्मण, सूद्र, हिन्दू-मुसलमान के जातीय अंतर एवं ऊंचाई - नीचता तथा स्पर्श - अस्पर्शता की निरस्त्रक सामाजिक मान्यता को ये सन्त अकादमी तर्क से प्रस्तुत करते हैं।

कैसे हिन्दू तुरंत कहाया । सबही एक द्वारे आया ॥
कैसे बाहर कैसे सूद्र । एक हाथ चाम तन गूढ ॥
एक बिंद एक भग द्वारा । एक सब घर बोलन हारा ॥
कौम छतीस एकही जाती । ब्रह्मणज सबकी उल्पाती ॥ गरीबदास

बाहर तो भये जनेंद्र को पहरिये कै, बामनी के गले कुछ नाही देखा।
आधी सुद्रनी रहे घरे के बीच में, करे तुम खाँह यह कौन लेखा ॥
सेख की सुजति से मुसलमानी भई, सेखानी की नाही तुम कही सेखा ।
आधी हिन्दूतिन रहे घरे के बीच में, पलटू अब दुहुन के मारू मेखा ॥ पलटूदास

इलुड़ समाज विज्ञान के सन्दर्भ में यह निर्देश करते हैं कि कुछ लोगों का यह विचार है कि समाज विज्ञान में भी भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान आदि प्राकृतिक विज्ञानों के परिणामात्मक पद्धति का प्रयोग किया जाना चाहिए। इससे समाज विज्ञानों में अकादमी तथा निर्धारित प्रस्तावनामों एवं नियमों को प्राप्त किया जा सकता है। यद्यपि इस पद्धति की कमियों को भी ऊजागर किया गया। इस विचार के तहत यह माना गया कि समाज विज्ञान प्राकृतिक विज्ञान से मिलता है। इसकी प्रामाणिकता इस कथन में है कि “समाज-विज्ञान तो अपनी विषय वस्तु की प्रकृति के ही कारण आवश्यक रूप से तर्कमूलक विज्ञान है, अतः प्राकृतिक विज्ञानों की पद्धतियों की अपेक्षा समाज-सामान्य धर्मनालक दिन्तल के द्वारा इनकी प्रतिश्च होने चाहिए। .... क्योंकि यह ऐसा सामान्य विज्ञान है, जो मानव-समाज की अत्यधिक अमूर्त और आधारूपीत समस्याओं पर विचार करता है।” । वस्तुतः यह मार्ग आलोचनात्मक मनोरीय से परीपूर्ण।

1. समाज शास्त्र की विचारी, अनुवादक : श्यामराज तिवारी, पृ. 22
एक विस्तृत पद्धति की ओर बढ़ता है। इसका मतलब है कि प्राकृतिक विज्ञानों की पद्धति विस्तृत होनी चाहिए। मानवीय तर्क की परिसर से हेतु सारे विश्वसनीय साधनों का प्रयोग होना चाहिए। इस सन्दर्भ में सक्रिय आत्मोत्तम मनोनीत तार्किक दृष्टि से प्रशिक्षित होनी चाहिए तथा इतिहास का सम्पूर्ण बोध होना चाहिए और वर्तमान का यथार्थ और समस्त विचारन पद्धति के सन्दर्भ में परिपूर्ण ज्ञान होना चाहिए। इस सम्पूर्ण बोध के साथ जहाँ तक हो जनक सत्य का अन्वेषण होना चाहिए, इस बात को और सप्त करते हुए कहते हैं, “समाज विज्ञानों के क्षेत्र में सम्पूर्ण मनोनीत का आशय है निर्धारित दिशा में विस्तृत और गहन अध्ययन। यही व्यापक मनोनीत है। समाज - वैज्ञानिक जब तक मानव - प्रकृति से सम्बन्धित आधुनिक जैविक और मनोविज्ञान के श्रेष्ठ सिद्धांतों और निष्कर्षों से परिचित नहीं होंगी, तब तक वे निष्कर्षित रूप से सामाजिक आचरण या गतिविधियों की व्याख्या करने के उपयोग करना है। समाज वैज्ञानिकों को, मानव-समाज को समझने के लिए मानव-इतिहास का ज्ञान भी अपेक्षित है। .... नये समाज विज्ञानों को इतिहास को भी बहुत कुछ देना है; क्योंकि राजनीति विज्ञान, अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र जैसे समाज - विज्ञानों की उपलब्धियों से अपरिचित इतिहासकार अत्यन्त दयनीय दृष्टि प्रस्तुत करते हैं।”

सत्य भी तो चेतना के विस्तार तक पहुँचना चाहते हैं। वे ज्ञान की चौहदी में सिमटकर बेहदी बात नहीं करते। कबीर का कथन इस्तेमाल है -

“हद छाड़ि बेहद गया, रहा निरंतर होय।
बेहद के मैदान में, रहा कबीरा सोय।” कबीरदास

वैज्ञानिक पद्धति एवं दार्शनिक प्रक्रिया को ध्यान में रखते हुए समाजशास्त्र का अध्ययन पश्चिम में ही आरम्भ हुआ। यो तो दर्शन विज्ञान से पूर्व विज्ञान माना जाता है। सभी दार्शनिक विज्ञानों में समाजशास्त्र को काफी युगा माना गया है। समकालीन यूरोपीय दार्शनिक मानते हैं कि यह “मानव-समाज का दर्शन है।” लेकिन ‘अमेरिकी

1. समाज शास्त्र की विषयों, अनुवादक: समूहल त्रिपाठी, पृ. 24
“सोसियोलोजिकल सोसाइटी” के भूतपूर्व अध्यक्ष ने इसके विपरीत घोषणा की है, “अध्यात्मिक समाजशास्त्र अपने क्षेत्र में दर्शानिक त्रिविधिक विकल्प क्रान्तिकारी प्रतिक्रिया या प्रतिक्रियावर्ग करता है तथा आध्यात्मिक समाज शास्त्रियों ने यह स्वीकार कर लिया है कि जो वैज्ञानिक पद्धतियाँ प्राकृतिक विज्ञानोंके लिए उपयोगी पाई गई हैं, उन्हें समाज शास्त्रीय सामग्री (मैटरियल) के लिए भी अंगीकार करना चाहिए।” निश्चित रूप में उनका कथन था कि भविष्य में वैज्ञानिक समाजशास्त्र समाज - दर्शन से पूर्ण रूप से पृथक हो जाएगा; क्योंकि इस बात को ध्यान में रखा जाएगा कि समाज-दर्शन किसी सीमा तक हमारी इच्छाओं का तर्क परक समर्थन या वैदिककरण (रेखास्तिकालीन) है।”

इस विवेक की स्थिति के चकित के बाद भी सामान्य दृष्टि से तथा सामाजिक रूप में समाजज्ञानों की भी तलाश हुई। यह दृष्टिकोण उम्मीद आया कि सामाजिक दृष्टि से एक प्रकार से और सामाजिक रूप में तीन प्रकार से दर्शन शास्त्र और सामाजिक विज्ञानों की विधियों में परस्पर साहचर्य बना रहना चाहिए। सामाजिक साहचर्य तो यही है कि समाज-विज्ञान का प्रमुख अंतर तो यही है कि उसका विवेचन एवं वैधानिक विधि केवल बाह्य प्रतीति में नहीं आता। उसे केवल युनियनों द्वारा मापा नहीं जा सकता। उनके मूल्यांकन में उनके गुणों और चेतन मूल्यों को भी लेना पड़ता है। इसीलिए इल्लाक बनाते हैं कि “मानव-समाज की प्रकृति के कारण ही सामाजिक समस्याओं के समझने के लिए गुणात्मक उपाय (Approach) आवश्यक है। समाज-विज्ञान के कार्य - क्षेत्र को समझ करते हुए वे आगे कहते हैं - ‘समाज-विज्ञानों को उन समस्त तथ्यों का संस्कृत होना चाहिए जिनका सामाजिक प्रक्रिया के समझने के लिए कोई महत्व हो, और इसलिए उनकी वैज्ञानिक विधि में विशिष्ट विधियों का संस्कृत होना चाहिए। इस विशेष पक्ष में वे पुनः दर्शनशास्त्र के सदृश हैं क्योंकि दर्शनशास्त्र का एक लक्ष्य समस्त ज्ञानों का संस्कृत है’ ..... समाज विज्ञान और दर्शन शास्त्र में एक और समानता यह है कि दोनों तात्कालिक आलोचना की विधि का उपयोग करते हैं। यह आलोचना अध्यायाओं (Concept), विधियों और सिद्धांतों की होती है। अध्यायाओं के आलोचनात्मक उपयोग में यह भाव निहित है कि उनके अर्थ को साहचर्य से परिवर्तित किया जाएगा।”

1. समाज शास्त्र की विधियों, अनुवादक : शामीरल विपादी, पृ. 27-28
2. समाज शास्त्र की विधियों, अनुवादक : शामीरल विपादी, पृ. 35
अब प्रस्तुत यह उठता है कि जब हम तत्त्वशास्त्रीय विचार करने की बात करते हैं और यह भी नाम है कि समस्त प्राकृतिक ज्ञानीय अनुभव के अभीन हों तो समाज-विज्ञानों में प्राकृतिक तत्त्व दार्शनिक तत्त्व से भूमित होने की
जरूरत क्या है। सन्तु साधिय में भी दार्शनिक चिंतन है, सूत्र संस्कृतमयो का सहारा
मिला जाता है किन्तु सबल तत्त्व के साथ सामाजिक सच को उतार खी किया जाता है।
यह उद्गार क्षुद्र सत्ता से भी जुड़ा है तो आमूर्त और सूत्र संतानत्ता संवेदना को भी
समेटता चलता है। ये सन्तु अपनी अवधारणाओं को बढ़ाता दार्शनिक डंग से अभियुक्त करते हैं
किसी किसी सैद्धांतिक विधि एवं सिद्धांतों के तहत नहीं। हाँ इतना जफर है
कि ये सन्तु आलोचनात्मक दृष्टि से इतिहास एवं वर्तमान का मूल्यांकन करते हैं। साधारणतः
उनकी मूल्य भीमांसा गुणाल्पक एवं चेतन नृत्यों को भी संवर्धन करती है। एक तरफ
ये दार्शनिक चिंतन करते हैं तो एक साथ ही समाज के सच का उद्घाटन भी बढ़े
क्रांतिकारी रूप में करते हैं।

नैतिकता को केन्द्र करके इन दो विचारों की समानता को उजागर किया
गया है, "अनुसार: समाज-विज्ञानों और दर्शनशास्त्र में यह समानता है कि दोनों नैतिक
मूल्यों पर विचार करते हैं। समाज-विज्ञान नैतिक मूल्यों पर इसलिए विचार करते हैं
क्योंकि नैतिक मूल्य न्यायिक मूल्य हैं और ये उसी प्रकार हमारे सामाजिक अनुभव के
तथ्य हैं, जिस प्रकार अन्य कोई तथ्य होते हैं। अतः यापक अर्थ में समाज विज्ञान
नैतिक (Ethical) हैं, अर्थात् ये मूल्यों का विवेचन करते हैं।"1 इस प्रकार के नैतिकता के
अभाव में ही सामाजिक मूल्य विनाश होता है। सुन्दर दास ने समाज के अनैतिक लोगों
की गुणवत्ता का बख़्तावर्त्तक तरीका से किया है। अनेक उद्गारों से इस नैतिकता
के अभाव को व्यक्त किया गया है। यहाँ केवल एक दृष्टांत देना संभव नहीं होगा।

आपने काज समारूह के हित, और के कान्वें जाई।
आपने कार्य होऊ न होऊ, बुरो करी और के डाल हाई।
आपहु खोजत चाहू न खोजत, खोज दुरें घर देत बुढ़ाई।
सुन्दर देखत ही बनि आवाज़, दुख दरे नहीं कीन बुढ़ाई। सुन्दर दास

1. समाज शास्त्र की विषयों, अनुवादक: शाम्सूद्दीन शिकारी, पृ. 38
सामाजिक नैतिकता और आनैतिकता के निर्धारण के बिना न सामाजिक मूल्यहीनता का निदाशन हा सकता है और न सामाजिक मूल्यों की स्थापना ही हो सकती है। इस नैतिक परिगणितों की स्वीकृति की अनिवार्यता की ओर इलाका का संकेत इस प्रकार है,— “...... समाज विज्ञानों की नैतिक परिगणितों को स्पष्ट रूप में स्वीकार करना तथा समाज-विज्ञान के रूप में नीतिशास्त्र का अन्य समाज-विज्ञानों से घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार करना श्रेयस्कर है। इस रीति से समाज-विज्ञान मानव समाज को एक नवीन और वैज्ञानिक समाज-दर्शन प्रदान करने के उस कार्य में सहायता देंगे, जो निशिचत रूप से उनके अंतिम लक्ष्य है।”

अब एक बात उठती है कि समाज शास्त्रीय चित्तरंग आत्मनिष्ठ है या वस्तुनिष्ठ ? यह बहस भी समाजशास्त्रियों के बीच उठी थी। इसका जिक्र करते हुए इलाका का कथन है, “अमेरिकी समाजशास्त्रियों के समाज शास्त्रीय चित्तरंग में ‘वस्तुनिष्ठ’ (Objective) शब्द एक मुख्यवर्ग अवरोधक प्रतीत हो रहा है। एक पीढ़ी पूर्व स्माल और गिस्मिस्ट यह मान रहे थे कि समाजशास्त्र वस्तुनिष्ठ विज्ञान हो गया है, तथा समाजशास्त्री स्वस्तुनिष्ठता (Objectivity) से विचार करते हैं। ....... स्माल और गिस्मिस्ट दोनों प्रायोजकों ने अपनी समाजशास्त्रीय व्याख्याओं में व्यक्तिनिष्ठ (Subjective) कारकों का खुलकर उत्पन्न किया है। उनका ‘वस्तुनिष्ठ चित्तरंग’ का स्पष्ट आशय था, निर्यातिक, निरर्थ पण यह तटस्थ चित्तरंग — एक शब्द में कहें, तो ऐसा चित्रण जो चित्रण के व्यक्तित्व से प्रभावित न हो।”

स्माल और गिस्मिस्ट की विचारधारा को और व्याख्यातार करते हुए वे कहते हैं, “श्रेष्ठतम समाजशास्त्रियों ने सामाजिक यथार्थता का या निर्यातिक या ‘वस्तुनिष्ठ’ दृष्टिकोण प्राप्त करने के लिए अपनी व्यक्ति निष्ठात के निर्माण के परियोजना को अवश्यक को संदेह निष्ठौक किया है। समस्त वैज्ञानिकों के समान ही समाजशास्त्रियों ने भी वस्तुनिष्ठता को सदा अपना लक्ष्य बनाया है, अर्थात्, प्रक्रिया का ऐसा वर्णन होता है कि वर्णन (Discription) का सत्यापन किसी भी अनेकक द्वारा किया जा सकता है। जैसे ही हम वैज्ञानिक समीकरण (Personal equation) अर्थात् वैज्ञानिक निरीक्षण दंश को दूर कर देते हैं, तभी विज्ञान सम्बंध हो जाता है। इसी

1. समाज शास्त्र की विधियाँ, अनुवादक : सामूरल निर्मल, पृ. 41
भाव में, समाज के व्यक्तियों की आकस्मिक, इच्छाओं, हितों, विश्वासों, विचारों का उसी प्रकार वस्तुनिष्ठता से अध्यन हो सकता है, जैसे किसी भी अन्य सामाजिक प्रगति का। निःसंदेह यही प्रो. स्नान और मिधिरा की वैज्ञानिक अभिवृत्ति है।"।

समाज की जड़ता के बीच सापेक्षिक दृष्टि से कबीर अपनी आत्मनिष्ठ चित्ता को व्यक्त करते हुए आत्मनिष्ठता से वस्तुनिष्ठता का सच प्रस्तुत करते हैं —

सुखिया सब संसार है, खावे अरु सोवे।
दुखिया दास कबीर है, जागे अरु रोवे।। कबीर दास

पलन्द दास भी अपने विवेक सापेक्ष सामाजिक व्याख्यात को इस प्रकार व्यक्त करते हैं —

पलन्द में कारे कहूँ, कुंआ पड़ि है भंग।
झूठे में सब जग वला, छिल छिल जा ता अंग।। पलन्द दास

सारे समाज की अंधता का वर्णन जब पलन्द दास करते हैं तब वे सर्व-सापेक्ष ही सामाजिक अज्ञानता को व्यक्त करते हैं —

अंधरन केरि बाजार में गया एक डितियार।
अहमक आये आज रवै सबे मिली तारी लाये।
जारी आँखिक कोरि रहौ तुम हमरी नाई।

सब अंधरन मिलि अंध-अंध्रण को ठहरायी।
जहां लाखन अंध एक क्या करै विचारा।
सुने बाकी कोऊ तहाँ डितियारे हारा।
पलन्द दास यही बात कोऊ न करै विचार।। पलन्द दास

निश्चय ही भक्ति की वैज्ञानिक अनुमूल्य से आविष्कर एक विवेकी भक्त की वैज्ञानिक धिन्ता सार्वजानी सच बन जाती है। इसके साथ चर्चा उन वस्तुनिष्ठ वादियों पर जाती है जो समाजविज्ञान के निर्माण में परम्परित वस्तुनिष्ठता के पुराने मानन्द

1. समाज शास्त्र की विधियों, अनुवादक : शाम्पुरल त्रिपाठी, पृ. 41
पर्यावत नहीं मानते हैं। वे मानते हैं कि "वैज्ञानिक उद्देश्यों के लिए तथ्य ऐसा होना चाहिए, 'जिसका पर्यवेक्षण हो सके', बाह्य जगत की ऐसी घटना होनी चाहिए, जो स्वयं इन्द्रियों पर प्रभाव डालती हो, जिसे मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं या कारकों से सन्दर्भ के बिना वर्णित किया जा सके और करना चाहिए। यह सम्प्रदाय सामाजिक जीवन की प्रत्येक वस्तु का आदर्श और पर्यावरण के सन्दर्भ में वर्णन करता है। इस सम्प्रदाय के समर्थक भावना, प्रत्यय (Idea), विश्वास, मूल्य, मानदंड या मानसिक अन्तः क्रिया जैसे शब्दों के लिए विज्ञान में कोई स्थान नहीं पाते हैं। ..... वे मानते हैं कि 'केवल वस्तुवाद शब्दों का वर्णन ही वैज्ञानिक है, और इन दोनों प्रकार के वर्णनों को मिश्रित नहीं करना चाहिए। इसका आलावा यह है कि व्यक्तिवाद रूप में या मनोविज्ञान के शब्दों में किया गया वर्णन केवल साहित्यिक या कलात्मक महत्व का है।"\[1\]

आगस्त कान्टे ने ही समाज शास्त्र में वस्तुवाद वादी आन्दोलन और मनोविज्ञान में व्यवहारवादी आन्दोलन की प्रस्तापना की। लेकिन विशेष प्रकरण में वे ही वस्तुवादवाद का भल्ला करते हैं। ..... "कान्टे अपनी 'पारिष्ठ वालिटिक्स' पुस्तक में तो यहाँ तक कहता है कि समाज शास्त्र विश्लेषण मानसिक विज्ञान के रूप में "परिणत होने योग्य" है।

प्रो. इमाइल डुर्क्कीम आधुनिक समाजशास्त्र के वस्तुवादवादी चिन्तक हैं। "डुर्क्कीम ने अपनी विज्ञ में कठोर रूप से वस्तुवाद होने का दावा किया था। उसने तथ्य की परिभाषा करते हुए कहा है कि जो कुछ पर्यवेक्षण को प्रभावित करता है, वह तथ्य है। उसने कहा कि यदि समाजशास्त्र को वैज्ञानिक बनाना है, तो सामाजिक तथ्यों को उस चेतना व्यक्ति, जिसके मस्तिष्क में उनका अस्तित्व होता है, से पृथक करना चाहिए।"\[2\] डुर्क्कीम सामाजिक प्रगतिवादियों को समूहीकरण विषयों में खोजने के पक्षबंध हैं, वैज्ञानिक चेतना में या अन्य घटनाओं में नहीं। वे मानते हैं कि सामाजिक तथ्य के निर्धारक कारक हमेशा पूर्ववर्ती सामाजिक तथ्यों में खोजे जा सकते हैं। अगे डॉ. जेलिओनी को उद्देश्य करते हुए इल्ड वस्तुवादी व्यक्ति की आगे बढ़ाते हैं। "सन् 1909 में डॉ. जेलिओनी ने प्रीटर्सवर्ग दार्शनिक समा में एक प्रबंध पढ़ा था, जिसमें उसने

1. समाज शास्त्र की विधियाँ, अनुवादक : शम्भूरत्न त्रिमाणी, पृ. 41
2. समाज शास्त्र की विधियाँ, अनुवादक : शम्भूरत्न त्रिमाणी, पृ. 43
कठोर समाज शास्त्रीय वस्तुनिष्ठवाद प्रस्तुत किया था। जेलिओनी ने कहा था कि प्राकृतिक विज्ञान उन प्रघटनाओं का विज्ञान है जो इतने द्वारा खोजे जाने की वस्तु है, न कि उन अवधारणाओं द्वारा जिसके प्राप्ति: उनको सम्बन्धित किया जाता है। अतः: प्राकृतिक विज्ञानों का कार्य केवल पर्यावरणिय प्रघटनाओं का वर्णन करना, न वैज्ञानिक प्रघटनाओं की खोज करना और अन्ततः नियमों और प्रघटनाओं के परास्त्विक संबंधों को निकालना है। ......... वह आगे कहता है – मानव – समाज के परिक्षण में प्रघटना की अस्पष्ट अवधारणा वैज्ञानिक के मानसिक पक्ष को अचूता छोड़ देने के लिए विवश करती है।’’ जेलिओनी मनुष्य को मनोभौतिक (Psychophysical) साम्यवाद के रूप में प्रस्तुत करने के विरुद्ध हैं वे उसे केवल जीव वैज्ञानिक साम्यवाद ही मानने के पक्ष में है। इस क्रियाविधि हेतु वे कठोर मानसिक अनुसारण की बात उठाते हैं। इस प्रकार यह निर्णय सामने आता है कि शरीर क्रियात्मक समाजशास्त्र के लिए मनोवैज्ञानिक समाजशास्त्र की आवश्यकता नहीं होती। यद्यपि यह बात ठीक है कि मनोवैज्ञानिक समाजशास्त्र शरीर क्रियात्मक समाजशास्त्र के आधार पर प्रगति कर सकता है। अतः मानसिक प्रक्रियाओं की अवधारणाएं शरीर के व्यवहार और बाह्य परिस्थितियों पर निर्भर हैं। व्यक्तिवैद्य समाजशास्त्र के परिणामों के सन्दर्भ में उनकी मान्यता है कि, “व्यक्तिवैद्य समाजशास्त्र स्वयं मानसिक समानांतरवाद (Parallelism) के आधार पर वस्तुनिष्ठ समाजशास्त्र के परिणामों को प्राप्त कर सकता है। यह समानांतर वाद कबीर के इस कथन में देखा जा सकता है –

यह तत्त्व यह तत्त्व एक है एक जीव दुहाग।
अपने जी से जानिये दूसरे की हाल। कबीर

अब मनोवैज्ञानिक व्यवहारवाद को लेकर समाज विज्ञानों की वस्तु स्थिति का विवेचन किया जाएगा। मनोविज्ञान में ही व्यवहारवाद का प्रचलन हुआ। इसकी चर्चा पूर्व की जा चुकी है। इसका प्रयोग आगे चलकर अन्य विज्ञानों में भी होने लगा। इस बात को स्पष्ट करते हुए इलाज़ कहते हैं, “बहुसंख्यक समाज शास्त्रियों तथा कुछ अर्थशास्त्रियों और राजनीति वैज्ञानिकों का यह दावा है कि समाज-विज्ञानों का तर्कशास्त्र,

1. समाज शास्त्र की विधियें, अनुवादक : शमशुरान त्रिपाठी, पृ. 44
अथवात् उनके समस्याओं के अध्ययन में प्रयुक्त होने वाली उपाय की विधि (Method of approach) वही है, जो प्रौद्योगिक विज्ञानों की है। ..... और यदि समाज – विज्ञानों को विज्ञान बनाना है, तो उन्हें प्रौद्योगिक वस्तुविज्ञान शब्दावली या प्रतीकों में पुनः लिखना होगा, और वास्तविक रूप में नहीं, तो कम से कम प्राकृतिक प्रदशनों के रूप में ही उनके निष्पादनों को परिपालनात्मक मायन में वर्णित करना होगा। यही समाजशास्त्रीय व्यवहारवाद (Behaviourism) है। ..... ये व्यवहारवादी समाजशास्त्रीय यह प्रतिपादित करते हैं कि मानसिक प्रक्रिया के सनसन व्यक्तिगत शब्दों या नामों, जैसे आदर्शों, विचारांस, आकृतियों, इच्छाओं का मानव-समाज के वैज्ञानिक वर्णन में कोई स्थान नहीं है, सिवाय इसके कि ऐसी प्रक्रियाओं के लिए वस्तुविज्ञान शब्दावली के अभाव होने के कारण इन शब्दों या नामों को केवल अर्थात्तीय रूप से ही रहन किया जाय -- वैज्ञानिक उदेश्यों के लिए केवल भौतिक का ही वास्तविक अर्थात्य होता है।”

व्यवहारवादी और अव्यवहारवादी में मूल अंतर को स्पष्ट करते हुए एक मनोवैज्ञानिक व्यवहारवादी ने कहा है, “अव्यवहारवादी यह विचार करता है कि व्यक्तिगत, अभूतपूर्व और प्रथम वैज्ञानिक मूलक है, और ये वस्तुविज्ञान प्रथम वैज्ञानिक मूलक है, जबकि व्यवहारवादी मानसिक प्रक्रियाओं (entities) या प्रक्रियाओं की अवधारणा का परिचायक करते हैं।” 2 अब यह निष्पादन सामने आया कि धीरे-धीरे समाज विज्ञानों से सारे व्यक्तिगत या मानसिक शब्दावली का पृथ्वकरण कर दिया जाय। यहीं एक मात्र रास्ता है कि इन ज्ञानों के सच्चे रूप में विज्ञान बनाया जा सकता है। प्रोफेसर चार्ल्स हार्टन कूले एक ऐसे समाजशास्त्री थे जिन्होंने काफी स्पष्ट रूप में व्यवहारवाद का विरोध किया। उनका मत है कि “व्यवहारवाद अथवात् बाह्य-जीवन का अध्ययन और मापन एक फलाफल और नम्बराओं से युक्त विधि है, लेकिन पूर्ण रूप से इसी प्रकार के अध्ययन से युक्त तथा मृत्तिका के सहायता पृथक्करण के बिना मानवीय विज्ञान का विवेचन करना, वे रूप से उस प्रकार का रूप देना है। अंतर और बाह्य चेतना और व्यवहार परस्पर पूरक हैं तथा एक दूसरे की व्याख्या करते हैं।”

1. समाज शास्त्र की विधियाँ, अनुवादक : शमुयलं सिद्धांत, पृ. 55
2. समाज शास्त्र की विधियाँ, अनुवादक : शमुयलं सिद्धांत, पृ. 56
3. समाज शास्त्र की विधियाँ, अनुवादक : शमुयलं सिद्धांत, पृ. 58
इलुड़ ने व्यवहार वाद के सन्दर्भ में अनेक आपत्तियों को उठाया है। उन आपत्तियों को यहाँ प्रस्तुत करना समीचीन होगा। पहली आपत्ति यह है कि विद्वान व्यवहारवादी विधि में वैज्ञानिक विधि शास्त्र के अनुसार प्रायोगिक अभिवृद्धि (Attitude) का अभाव रहता है। दूसरी विधि शास्त्रीय आपत्ति यह है कि यदि यह स्क्रमता का दाया करता है, तो यह तथा मीमांसात्मक मताप्रधानता (Metaphysical Dogmatism) का अनुसरण करता है। अब विज्ञान सम्पूर्ण यथार्थता की दिशा में एक आन्दोलन है, और इसे किसी विद्याग्रहण या पूर्वाग्रह के आधार पर नहीं संपन्नित किया जा सकता है, अतः इसे मस्तिष्क पर आधारित करना है। .......... दूसरी विधि वादियों आपत्ति यह है कि यह अपने परिप्रेक्ष्यों को ऐसी भाषा में प्रस्तुत करता है जो प्रस्तोता के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति के लिए बोधगम्य नहीं होती है; और इस प्रकार विज्ञान का व्यवहारिक महत्व कम हो जाता है। .............. यदि हम चेतन कारक को समाज-विज्ञानों से पृथक कर देते हैं तो निरचय ही समाज - विज्ञान अर्थविहिन हो जाते हैं और इस प्रकार जाँच के किसी प्रकार से प्रभावित होने की आशा की बात है, वे एक प्रकार से शारीरिक या मूल विज्ञान हो जाते हैं। व्यवहारवाद के विद्वान प्रत्याशित और अन्तिम विधि शास्त्रीय आपत्ति यह है कि यह संस्कृति के अभिवृत्तक पक्ष पर वैज्ञानिक श्रृद्धि से विचार करने के लिए कोई सक्षम आधार नहीं प्रदान करता है।"¹ संस्कृति के विश्लेषण की अवधारणा के आधार पर इलुड़ जाँच कहते हैं, "सामाजिक समस्याओं के अभ्यास की जो कोई ऐसी पदवी, जो संस्कृति के अभिवृत्तक पक्ष के अध्यन में बाधा उत्पन्न करती है, वो यह सामाजिक विज्ञानों के विकास के मार्ग में अवरोधक है, क्योंकि सामाजिक विज्ञानों में भविष्य में सर्वोत्तम फलदाद विकास संस्कृति के अभिवृत्तक या कठोर मनोविज्ञानिक पक्षों के द्वारा ही होगा।"²

अब देखना है कि व्यवहारवादी वर्णनों की वैज्ञानिक अप्रमाण का कारण क्या है? "प्रथम कारण यह है कि वे मानव-सामाजिक प्रक्रिया की सच्ची प्रकृति को नहीं प्रस्तुत करते हैं, जो अन्तर-संघर्ष की आवश्यक प्रक्रिया है। दूसरा कारण यह है कि वे वैयक्त मानवीय व्यवहार की सच्ची प्रकृति को नहीं प्रस्तुत करते हैं, जो आवश्यक

1. समाज शास्त्र की सिद्धांत, अनुवादक: शम्भुरत्न त्रिपाठी, पृ. 59-61
2. समाज शास्त्र की सिद्धांत, अनुवादक: शम्भुरत्न त्रिपाठी, पृ. 62
रूप में सांस्कृतिक है। तीसरा कारण यह है कि वे मानव संस्थाओं की सच्ची प्रकृति को प्रस्तुत करने में असफल है, जो आदर्शप्रकृति में सूचनाओं और मूल्यांकन प्रक्रियाओं पर आवश्यक है।”11 ‘अर्थ’ बोध जैसे वैज्ञानिक प्रश्नों को लेकर प्रोफेसर सोजिमिक भी व्यवहारवादी चेतना का विवेचन कर रहे थे। उनका मानना है अन्तर-संचार के बिना अर्थ बोध सम्भव नहीं है। वस्तुतः मनुष्यों में सीखने की प्रक्रिया में कल्याण, अन्तर्रुपट और अर्थबोध योगदान करते हैं; लेकिन व्यवहारवाद मानव-संस्कृति की समूही संरचना को समझने में हमारी सहायता करने में निश्चक है जिस सुजातात्मक मानसिक संरचना के द्वारा मनुष्य नई अवधारणाओं, भाषा, भौतिक उपकरणों, मानव-संस्थाओं, सरकार, धर्म, नैतिकता, कला और विज्ञान का निर्माण करता है उसे व्यवहारवादियों ने छोड़ ही दिया है। व्यवहारवादी बहुत राष्ट्रियवर्ण मानव-मस्तिष्क की उपेक्षा करता है।

इलुस्ट्रैशन का कहना है कि व्यवहारवाद का उद्देश्य स्वाभाविक रूप में हुआ करता है कि यह रूप का राष्ट्रीय राजपथ बन गया है जो हमारे मूल संस्कृति के नाम से प्रसिद्ध है। ईसा में यह नीति है कि व्यवहारवाद मानव-मस्तिष्क पर धर्म की तरह निर्णयकता अत्याचार करता है। बड़ी ईमानदारी से मस्तिष्क को वैज्ञानिक कार्यों में उन्मुक्त रहना चाहिए।

समाज शास्त्र की व्यवहारवादिता - अध्यात्मवादिता आत्मनिर्देश - वस्तुनिष्ठता, वैज्ञानिकता - निर्बन्धता के बारे में संबंध में विचार किया गया। अब समाजशास्त्र की वैज्ञानिक विधि पर विचार किया जाता है। “अमेरिकी राष्ट्रवाद की प्रवृत्तियाँ” (Trends in American Sociology) पुस्तक के लेखने ने अपनी भौतिकता में यह घोषणा की थी कि “समाज शास्त्र एक प्राकृतिक विज्ञान है, इसलिए मानवीय सम्पर्क सबसे गतिविधियाँ के उद्योग प्राकृतिक विज्ञान की भावना में तथा प्राकृतिक विज्ञान की विधियों से डायर होने का अर्थ है।”12 लेकिन उसमें जाना जाता राजनीतिक, आर्थिक धार्मिक या शैक्षणिक आदि अनेक तथ्य व मानव - समाज की सतर्क प्रकृति या विशिष्ट घटनाएं वस्तुतः मनोवैज्ञानिक कियाँ जा प्रक्रियाओं से निर्मित होती हैं। उनका सम्पूर्ण मूल्यांकन नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण परिणाम भी नहीं मिल सकता।

1. समाज शास्त्र की विधियाँ, अनुवादक: शम्भूरत्न विजयवाड़ी, पृ. 62
2. समाज शास्त्र की विधियाँ, अनुवादक: शम्भूरत्न विजयवाड़ी, पृ. 71
प्रो. सी. एव. जड़. ने अपने ‘सामाजिक संस्थाओं की प्रकृति’ शीर्षक लेख में कहा है, “समाज विज्ञान उन विद्वान वस्तुओं की वास्तविकता को पहचानने में भी कुछ रहे हैं जिन पर वे विचार करते हैं। जिन वस्तुओं पर प्राकृतिक विज्ञान विचार करते हैं, वे हमारी इन्द्रियों द्वारा इतने प्रत्येक रूप से पहचानने जा सकते हैं कि हम एक वास्तविकता और एक प्रमाण के पानी की सोचते हैं जो प्राथमिक है। व्यक्ति के जीवन पर संस्थाओं का प्रमाण कम प्रत्यक्ष होता है और यह भौतिक वस्तुओं की कर्त्ता है, लेकिन यह किसी भी दशा में इन्द्रियों को तुरन्त आकर्षित करने में कम वास्तविक नहीं है।”1 इसका अर्थ है कि सामाजिक संस्थाओं की प्रपक्रियाएँ इन्द्रिय प्रत्यक्ष से भी कुछ ज्यादा है। इसीलिए विज्ञानी ने यह भी माना कि भौतिक विज्ञानों में हम कल्पना का प्रयोग अपेक्षित बहुत अधिक होता है। कारण कि प्रत्यक्ष और आपरत्यक्ष के सम्पूर्ण पर्यवेक्षण से ही सामाजिक संस्थाओं की प्रपक्रियाएं का सम्पूर्ण झड़ों हो सकता है। एक अमेरिकी प्राणिशास्त्री की घोषणा को इलाहाबाद ने प्रस्तुत किया है। किन्तु उनकी कल्पना का पर्यवेक्षण काफी कार्यालयक और आध्यात्मिक रूप से माना लगता है। यहाँ मानवीय चेतना उपरांत होने लगती है। वे कहते हैं, “....... वास्तव में कल्पना का मुख्य उद्देश्य ......... कल्पना उस आध्यात्मिक शरीर की आवश्यकता और पैर हैं जिसके द्वारा मनुष्य का तथा स्थान और पदार्थ का परिशुल्कन करता है तथा जिसके द्वारा वह भौतिक देवालय की संकुचित सीमा से दूर ऐसे लोकों में स्वयं को प्रक्षेपित कर सकता है जहाँ मनुष्य भौतिक शरीर नहीं पहुँच सकता है। कल्पना ब्रह्माण्ड के कपाटों को उन्मुक्त करती है। यह जिज्ञासु मनुष्य को ऐसी तात्कालिक शक्ति प्रदान करती है, जिससे वह काल के सार्वभौमण्डल गड्ढे में भी अतीत के सूक्ष्म किनारों और भविष्य के उच्च शिखरों पर दृष्टिपात कर सकता है ....... अतीत के निलय में विचारण कर सकता है, मृत के अवतरण का उत्पन्नन तथा अंकुरित भविष्य पर अभियान कर सकता है।”2 निश्चय ही यह कल्पना ज्ञानार्जन के आयाम-निगमन परम्परा से आगे विज्ञान का अध्यात्म ही है। इसके विपरीत ए. जे टॉड का मत है, “केवल कल्पना स्वयं में पूर्ण नहीं है। इसके भण्डार को निरंतर सफ और मरम्मत करने की आवश्यकता रहती है। यही आलोचनात्मक विचार का कार्य है। कल्पना के

1. सामाजिक शास्त्र की विविधताएँ, लतुवादक : शामसुर्लन त्रिपाठी, पृ. 73
2. सामाजिक शास्त्र की विविधताएँ, लतुवादक : शामसुर्लन त्रिपाठी, पृ. 75
खौत उस समय तक प्रवाहित नहीं होते हैं जब तक परम्परा और अन्ध विश्वास का आधिपत्य रहता है। कल्पना गतिशील है, जबकि परम्परा और रुढ़ि जड़ या स्थिर हैं। यदि भौतिक उपलब्धियों में विज्ञान के योगदान को आत्मवादिक शीर्षस्थ माना जाए, तो विज्ञान का मुख्य यशस्वी कार्य यह है कि यह रुढ़ियों के आधिपत्य की चटुटानों को तोड़कर अपनी धारा प्रवाहित करने में सफल हुआ है।"1 कल्पना की गतिशीलता में ही भौतिक विज्ञान गतिशील जीवन की खोज करता है। वर्तुः: समाज विज्ञान के अध्ययन के साथ पर्यावरण नहीं हो सकता। उसकी पूर्णता के लिए ऐतिहासिक उपक्रम की आवश्यकता होती है। इतिहास एवं लोक में अनेक समस्याओं का निदान मिलता है। इतिहास में ही मूर्ति तथ्यों की एक विशाल सम्पदा होती है। अतः ऐतिहासिक विधि ही एक बिश्वसनीय प्रणाली है। इस इतिहास का समझ लोक साहित्य एवं चेतना में भी रहता है। परिणामतः कहा जा सकता है कि समाज - विज्ञानों के उद्देश्य को पूर्वतया प्राप्त करने के लिए समस्त विधियों का समन्वय अनिवार्य है। अतः: समाज-विज्ञानों में अनुसंधान का मुख्य विषय, कल्पना, मनोविज्ञान और इतिहास ही होना चाहिए। इस प्रकार अन्तिम रूप में समाजशास्त्र संशोधनात्मक और दार्शनिक होगा।

अब समाज शास्त्र में पर्यवेक्षण एवं सम्बन्धित विधि का परिचय कर लेना समीचीन होगा। वर्तुः: समाज शास्त्र के अन्तर्गत सामाजिक प्रमुखताओं का मूल्यांकन उसका प्रयोग एवं मापन पर्यवेक्षण की ही प्रक्रिया है। एक सीमा तक यह पर्यवेक्षण प्राकृतिक विज्ञानों की प्रभिधि पर हो सकता है। सारे वैज्ञानिक पर्यवेक्षण वैज्ञानिक पर्यवेक्षण पर ही आधारित होते हैं फिर भी एक व्यक्ति का आजीवन पर्यवेक्षण सम्पूर्ण महत्वपूर्ण सामाजिक सिद्धांतों को निर्मित नहीं कर सकता। यह एक बहुसंख्यक मानव समाज के परम्परित एवं समकालीन पर्यवेक्षण पर निर्भर करता है। समाज शास्त्रीय प्रयोगशालाएँ कुछ सामाजिक प्रक्रियाओं को मूल्यांकित कर सकती हैं परन्तु इससे समस्त मानवीय प्रक्रियाओं का मूल्यांकन नहीं हो सकता। कुछ के मूल्यांकन से समस्त का उद्धारण सम्पूर्ण नहीं है। इस संदर्भ में इलुड़ का विचार द्रष्टव्य है, "श्रेष्ठ समाज शास्त्रीय प्रयोगशाला सदा उस सामाजिक जीवन में है, जो हमारे चारों ओर है, जैसे-स्वाभाविक मानव-समुदाय, राष्ट्र, समुदाय, विश्व और किसी दृष्टि से मानव-इतिहास।

1. समाज शास्त्र की विचारीय, अनुवादक : शमुरल जियारी, प. 76-77
यह सामाजिक अनुभव का एक सर्वप्रथम सिद्धांत है। इलवड ने सामाजिक पर्यवेक्षणों के पाँच स्तरों की व्यवस्था की है। "पहला स्थान और शारीरिक गतिविधि का सिद्धांत व्यवहारवादी पर्यवेक्षण। दूसरा …. जब ये स्थान और काल की गतिविधियाँ किसी गतिविधि के समूह के स्वरूप से प्रतिविधि के रूप से सम्बन्धित की जाती हैं। तीसरा …. जब व्यवहार पर चेतना अथवा इसके प्रभाव के परिणामों का पर्यवेक्षक अभिलेखों में सम्बन्धित किया जाता है। यहाँ पर उप प्रघटनावाद, अन्तर क्रियावाद, या मनोभाविक समानांतरवाद के शब्दों में व्यवहार की व्याख्या करने की चेष्टा की जाती है। चौथा

1. यही इलवड, पृ. 86
स्तर .... जहाँ समूप्त व्यवहार के स्वरूप में घोषा, कपट, दम्भ आदि जैसे प्रच्छन्न या अप्रच्छन्न अर्थों का पर्यवेक्षण है, जिसके सम्बन्ध में व्यक्ति स्वयं अवगत नहीं होता है, अथवा, जिसको वह अवावतवेक कहकर सक्रिय रूप में विरोध करता है। ...... यह हमें मनोविश्लेषणात्मक लोक में ला खड़ा करता है, जो मानव पर्यवेक्षण का सर्वचिन्हित संस्थापकात्मक लोक है।

अब सवा क उठता है कि क्या वैज्ञानिक निष्ठाओं तक पहुँचने के लिए मापन का ही सहारा लिया जाय। ऐसा न हो कि मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक क्षेत्र में मनुष्य अपनी अत्तैत्त्विक व्यक्ति न कर सकता। अपनी सुचिनित अत्तैत्त्विक से वह जिन निष्ठाओं को प्राप्त करता है क्या उनसे दृढ़ नियमों का सत्यापन नहीं हो सकता? वास्तवः इल्लूड ने भी सामाजिक - मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में इसी माेकाना से आगे जाकर उसकी नितान्त आवश्यकता को स्वीकार किया है। सामाजिक पर्यवेक्षण की पारंपरिक स्थिति का प्रभाव कबीर के इस कथन में मिलता है कि अपनी अत्तैत्त्विक के बोध से कबीर पूरे मानवजाति के बहुआयामी वेदना से परिचित हैं किन्तु स्वयं व्यक्ति अपने जीवन के सत्य से अवगत नहीं है अतः जड़ संस्कारों में ऐसा जकड़ा है कि उस विरोध का ही विरोध हो जाता है। कबीर कहते हैं —

चुकिया सब संसार है, खाये अरू सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागे अरू रोवै।

वास्तवः केवल याओगिक विषयों से ऐसे प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया जा सकता। प्रयोग तो शाताब्दी - शाताब्दी तक चलता रहेगा। इस प्रक्रिया में अनियमित प्रक्रियाएँ भी आती रहती हैं। अंगूठा एवं प्रतिकूल की याओगिक प्रभाव प्रक्रिया में ही इन प्रश्नों का हल सम्भव है। अन्यथा यह विशुद्ध तर्कशास्त्र या अभिलेखित ही बनकर रह जाती हैं। सामाजिकशास्त्र में निश्चित परिष्करणात्मक विधि के समर्थक ने स्वीकार किया है, “सामाजिकशास्त्री द्वारा उल्लेखित रूप में कोई प्रयोग करने और उनकी दशाओं को निष्पक्षित करने की क्षमता सम्भव; इतनी सीमित है कि उसे नागण्य ही कहा जा

1. नहीं, इल्लूड, पृ. 86-87
लेकिन सांख्यिकी की विधि के उल्लंघनी समाज वैज्ञानिकों का विश्वास है कि सांख्यिकी की विधि हमें केवल व्यापक आधार पर सामाजिक तथ्यों और रूपियों के मापन के साधन ही नहीं प्रदान करती है अपितु सार्वभौम चलों के सह-सम्बन्धो को भी प्रदान करती है। वर्तमान: इस प्रक्रिया में इतिहास भी जुड़ा जाता है जबकि यह माना गया कि द्विभाषा - अध्ययन सामाजिक उद्देश्य तथा सांस्कृतिक परिवर्तनों के परिणाम स्वरूप आयी वृद्धि समाजशास्त्रीय समस्याओं को व्यक्त करने में सीमित और संकुचित ही रहा है। सर्वेक्षण - विधि मानव - समाज के आगमनात्मक अध्ययन के लिए एक व्यापक आधार मानी गयी है। यदि एक सामुदायिक सर्वेक्षण समुदाय की सांख्यिकी प्रक्रियाओं पर केंद्रित है तो इसे समाधित रूप में समुदाय का द्विभाषा - अध्ययन कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति में इलडड का मानना है कि द्विभाषा - अध्ययन - विधि और सर्वेक्षण विधि में संघर्ष होने की कोई समाधित नहीं है। आगे पिटङ्गुर्म सर्वेक्षण का उल्लेख करते हुए इलडड का कथन है कि अब यह पूर्णत: स्वीकार है कि सांख्यिकी - विज्ञानों में सर्वेक्षण - विधि उसी भावना और उन्ही विधियों के अनुसार विकास करने योग्य है जैसे सांस्कृतिक मानव - शास्त्र में इनका उपयोग होता है।

समाज - विज्ञान में सांख्यिकी - विधि के उपयोग एवं सीमाओं का मूल्यांकन समीचीन है। वर्तमान: समाज - वैज्ञानिक सातिक में सांख्यिकी विधियों एवं परिपातात्मक विश्लेषण के वैज्ञानिक मूल्य के सम्बन्ध में आपस में विरोध की स्थिति पायी जाती है। प्रो. होवार्ड बेकर ने अपनी पुस्तक ‘सिस्टेम्स टिक बीसीयोलॉजी’ में कहा है कि "समाज शास्त्रीय सनस्थाएँ किसी भी दशा में परिपातात्मक समस्याएँ नहीं हैं।" सांख्यिकी विधियों के द्वारा सामाजिक अध्ययन को वैज्ञानिक मानने वाले कार्य पिर्यास के इस सूत्र के सम्बन्ध है कि "मापन ही विज्ञान है!" प्रो. जी. यूटने यूल्ले का विचार है कि "समाज - विज्ञानों में सांख्यिकी विधियों को अनिवार्य नहीं अपितु आनुष्ठानिक मानना चाहिए।" अमेरिकन सांख्यिकीय - संघ के समाप्ति मैकलाउल सी रोटी ने गांग की थी कि "संख्या शास्त्रीयों को व्यापक भाव में लार्किक के वैज्ञानिक होना चाहिए तथा रूप में इलडड, प. 88
2. वैही, इलडड, प. 88
3. वैही, इलडड, प. 97
4. वैही, इलडड, प. 97
5. वैही, इलडड, प. 100
केवल गौण रूप से सांख्यिकी - प्रविधियों का प्रयोग होना चाहिए; व्यक्ति समस्त सांख्यिकीय निष्कर्षों पर पहुँचाने के लिए प्रथमः सरल संख्यात्मक और वित्तीयक विवरण से युक्त तार्किक और प्रामाणिक प्रक्रियाओं के माध्यम की आवश्यकता होती है।"1 इसका अर्थ है कि रॉटी वैज्ञानिक विधि शास्त्र में तर्क शास्त्र को स्वाभाविक स्थान देते थे। वे मानते हैं कि रॉटीहासिक एवं सांस्कृतिक परस्परस्थितियों अपाराध-दर के हार और वृद्धि की कारक होती हैं। सांस्कृतिक मूल्यांकन आत्मनिष्ठ एवं वस्तुनिष्ठ भी किन्तु आधुनिक वैज्ञानिक सर्वस्थिति की प्रक्रिया उनमें कैसे आ सकती थी। हाँ, उनका प्राप्त ज्ञान चाहे आत्मनिष्ठ विनिमय से सम्बन्धित हो, चाहे वस्तुनिष्ठ सामाजिक सत्य का निरूपण हो हमेशा तर्क संगत रहा है। जब वे संत ईश्वर और आत्मा की एकता को व्यक्त करते हैं तब भी आकाश तर्क प्रस्तुत करते हैं और जब समाज में किसी वर्ग विशेष की मान्य श्रेणियता की मूल्यहीनता को व्यक्त करते हैं तो उनका दृष्टांत बड़ा जीवन एवं सर्वजन - बोध होता है।

गोविन्दचन्द्र पाण्डेय का समाज, संस्कृति एवं सामाजिक सर्वस्थिति या प्रविधि सम्बन्धी विचार भारतीयता से आता प्रोत हैं। उनके साथ पारस्परिक वैज्ञानिक निरूपण भी है कि पाण्डेय जी के साथने उससे ज्यादा भारतीय आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक तथा धार्मिक उपरान्त भी है। उनका विचार एवं आध्यात्मिक कोण हमेशा में धार्मिकता की ओर ही उभरकर चलता है। सामाजिक ज्ञान के विषय आयामों में जो प्रोफेसर गोविन्द चन्द्र पाण्डेय के विचारों पर दृष्टिकोण करना चाहिए होगा। उनकी पुस्तक 'भारतीय सामाज तात्विक और ऐतिहासिक विवेचना' जो नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 23 दरियागंज, नयी दिल्ली - 110 002 से सन् 1994 में प्रकाशित है। उस प्रगति में विवेचना उनके विचारों का संक्षेपित विवेचन यहाँ दिया जाएगा।

वे इसी वातावरण के आरोप करते हैं कि भारतीय सामाज की अवधारणा 'पुरुष एवं स्त्री' में है। 'व्यक्ति का परिवार प्रवर्धन द्वारा होता है जबकि उसका श्रेणीय संसारस्मारी निश्चित ज्ञान - जाति और आकृति - रूप सामाजिक के द्वारा निष्पत्ति होता है।'2 उनका कहना है कि पुराने जस्माने में समाज के दिग्दर्शन का

1. कहीं, इलदड़, प. 100
2. भारतीय सामाज तात्विक और ऐतिहासिक विवेचना: गोविन्द चन्द्र पाण्डेय; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 23, दरियागंज, नयी दिल्ली-110 002, प्र. सं. 100

239
कार्य प्रमुखतः धर्म को सुपूर्द था। आज के जमाने में उसका दावेदार मित्रवत्त समाज - विज्ञान है। इस समाज विज्ञान के विकास को वे युरोप से मानते हैं जो 18वीं शताब्दी में आरम्भ होता है। यह तब हुआ जब वहाँ हर सामाजिक ज्ञान के क्षेत्र में धर्म निरपेक्ष होने की बात सामने आयी जहाँ सास्त्रीय ज्ञान की रासी सरणियों इंस्कर के सार्वजनिक थी। वहाँ युरोप का चित्तन इस इंस्कर वाद से ही नता तोड़ने में आमदा था। 19वीं शताब्दी में अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, नृत्य विज्ञा और मनोविज्ञान के रूप में धर्मनिरपेक्ष सामाजिक अध्ययन शुरु हुआ। इसी समय इतिहास - दर्शन की भी शुरुआत होती है।

इस संदर्भ में बात आगे बढ़ी कि सामाजिक तत्वों के विश्लेषण एवं समाज - विज्ञान की दृष्टि तत्स्थ या मूल्य-निरपेक्ष होती है।

देखाया के एक वाक्य को निरंजन करते हुए, ये कहते हैं कि देखाया ने कहा था कि "मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ।" समाज विज्ञान की मूल धारणा इसके विपरीत है कि "मैं हूँ - इसलिए मैं सोचता हूँ।" अर्थात् मानवीय चित्त्वाति मानवीय सत्ता का प्रकार (फैक्टर) है और मानवीय सत्ता सामाजिक सम्बन्धों, भूमिकाओं और प्रेरणाओं से नियंत्रित है। इन्होंने अर्थशास्त्रिक तत्व को मानने वाले समाज शास्त्री भी मानवीय चेतना और मूल्यों को सामाजिक विश्लेषण में महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं। यहाँ 'भी' की बात करके गोविन्द चन्द्र यह सिद्ध करते हैं कि इन्होंने मानने वाले मानवीय चेतना एवं मूल्य की सूक्ष्मता से परहेज रखते हैं। आपने इस बात के पक्षधर हैं कि "अन्य अद्वैत प्रगति के बावजूद विज्ञान प्रत्यक्ष, अनुभव और सम्भावना पर आधारित व्याख्यातक ज्ञान का परिपूर्ण और संबंधित रूप है।"

विज्ञान का कभी भी विरोध नहीं दिखाया देता। जब गोविन्द चन्द्र पाण्डेय विज्ञान की बात करते हैं तो उसके प्रति उनकी दृष्टि एकदम साफ है और किसी प्रकार का दुराग्रह नहीं है। वे विज्ञान के अद्वैत प्रगति को ही स्वीकार नहीं करते अपितु ज्ञान के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दो आयामों में वे विज्ञान को अपरोक्ष यानी प्रत्यक्ष ज्ञान के अन्तर्गत मानते हैं। इस प्रक्रिया में अनुभव, तर्क एवं गणित की युक्तियाँ ही उसका सब कुछ मालूम होती हैं। दूसरी ओर ये मानते हैं कि विज्ञान अपने सिद्धान्त के अनुसार

1. यही, प. 3
2. यही, प. 5
परीक्षा योग्य फलादेश (प्रियक्षण) को प्राप्त करता है। यह उसकी सबसे बड़ी सफलता होती है। यह सफलता भी प्रत्यक्ष गोचर ही होती है। अधिकांश विज्ञान-दर्शन इसी दोनों पहलों को लेकर प्रभाव देते हैं। अतः विज्ञान प्रत्यक्ष और तर्क का समक्षतर रूप हैं। यह ज्ञान परिभाषा, विश्वसनीय और अकंपनीय सफलता का संबंध करता है और इसीलिए वह लोकका ज्ञान से मिलते ही जाता है। समाज-विज्ञान की प्रकृति - विज्ञान से तुलना करते हुए वे मानते हैं कि समाज-विज्ञान को वैसी सफलता नहीं मिली। इस सन्दर्भ में उनकी उद्धृति है कि आवश्यकता की सफलता प्रमुख पद्धति के उनके सुविधा विवेकनात्मक प्रतिस्पर्धा पर निर्भर नहीं करती। इसीलिए और समाज-विज्ञान में पद्धति - विवेचन की प्रभावता रही है। पुरूषार्के के प्रसिद्ध शब्दों में "समाज शास्त्र में सबसे ज्यादा खोज के उपायों की चर्चा है, सबसे कम उपलब्धि।" समाज विज्ञान में न प्रत्यक्ष प्रयोग ही मिलते हैं, न परीक्षणीय फलादेश (प्रियक्षण)। उसके जीवांसिक नियमों में जो समाजवात्मक प्रकृतियों (आवृत्तिकल्पिक ट्रेन्ड्स) के निरूपण मिलते हैं, उनमें परिपात - क्रोध (अंद्रोर्बिंटिक) सीमित और स्थायी नदारद रहते हैं। .... समाज-विज्ञान की कुछ विधाओं एक सीमित प्राप्ति में स्थायी अपवाद हैं। उदाहरण के लिए मनोविज्ञान की पद्धति प्रयोगात्मक है और इकोनोमिक्स या डेमोग्राफी में सांख्यिकी का प्रयोग कुछ चरांकों (हेमियेबल्स) में निश्चित सम्बन्ध का पता लगाने में सहायक हैं। किन्तु यह भी सही है कि मनोविज्ञान में प्रयोग अधिकांश में शास्त्रीय प्रभाव या पशु-प्रकृति होता है। उनमें मानना प्रत्यक्ष, प्रत्यावेश या आत्मज्ञान से पता चलने वाले मानवीय आयामों का स्थान नहीं है और न उससे प्रकृति विज्ञान से तुलनीय मानवीय नियमों का पता चलता है। इकोनोमिक्स के रूप में और फलादेश एक सीमित आर्थिक स्थिति के आधार पर ही सार्थक होते हैं जो कि मानवीय नीतियों के द्वारा बदली जा सकती है। डेमोग्राफी या जनसंख्या के अंकों से सीमित सार्थक के अन्दर अवश्य इस प्रकार का ज्ञान होता है जो कि सामान्य प्रत्यक्ष या कल्पना को विदित नहीं होता।"
सामीकरण हैं, न वे वसन्त योग्य फलादेशों के आधार बन सकते हैं। नेता वैज्ञानिक को अपने विषय को सर्व सदस्यों से ग्रहण नहीं करना होता क्योंकि उसके साथ एक सम्पीक्षणत्तंत्र और सहयोगीत्तंत्र ताकतात्त्विक करना पड़ता है जिसके बिना उसका विषय बोधगम्य नहीं रह जाता है। इसीलिए उसे वैज्ञानिक उपकरण की आवश्यकता नहीं होती। संस्थागत मानवीय कार्यों और कार्यकर्ता - मूल्यांकन की प्रत्येक विषयों के तत्त्वात्मक न्युन्तम और वर्गीकरण उपयोगी हैं पर इतने मात्र से वैज्ञानिकता निष्पत्ति नहीं हो सकती। ......... विज्ञानों में क्रमशः 'नेविरल टाइप्स' या पारदर्शिक जाननेवाले के पता चला जिसके उदाहरण लिनियूज' और 'मैपेलोवी' की छूटियों में मिलते हैं। इसके विपरीत सामाजिक-विज्ञान में प्रयुक्त आइडियल टाइप्स विकल्पित हैं, न कि प्राकृतिक। ......... सामाजिक-विज्ञान की पद्धति प्रकृति - विज्ञान की पद्धति से तुलनात्मक नहीं है और नहीं सामाजिक-विज्ञान के नियम प्रकृति - विज्ञान के नियमों से तुलनात्मक है।" ।

किसी भी सामाजिक सत्ता के रचना में जैविक, मनोवैज्ञानिक घटक का होना अनिवार्य है। इसमें मानव व्यक्ति या इससे भिन्न सामाजिक इकाइयाँ अवश्य रूप में विवेकानन्द रहती हैं। इसमें व्यक्ति एकांक सामाजिक एकांक बन जाता है और उसका अविभाज्त व्यक्ति मन नहीं मानव-मन या सामाजिक मन हो जाता है। वस्तुतः जैविक - मनोवैज्ञानिक नियमों से व्यक्ति - मानव को तो समझ जा सकता है किन्तु सामाजिक नहीं। सामाजिक स्तर में न व्यक्ति रहता है और न व्यवहार। उसे एक नया आयाम मिल चुका होता है। अतः सामाजिक-विज्ञान के नियम और उनकी उपलब्धि की पद्धति भिन्न हो जाती है। फिर भी कुछ मात्र में समानता भी होती है। पाण्डेय जी के अनुसार, "सामाजिक-विज्ञान और प्रकृति - विज्ञान में जो बात समान है, वह यह है कि दोनों में ही ज्ञान ज्ञाता से स्वतंत्र पर कार्य-कारण भाव के पर्यत्न, किसी न किसी रूप में प्रत्येक योग्य विषयों का तत्स्थापित प्रमाण-सम्बन्ध ज्ञान होता है। जो प्रमाण प्रकृति - विज्ञान में प्रयुक्त होते हैं वे ही सामाजिक-विज्ञान में। प्राथमिकता की कसौटी भी दोनों में एक ही है और वस्तु - सत्ता की परिभाषा भी। ....... किन्तु सामाजिक-विज्ञान में भाव - व्यवहार को समझ और भाषा के मनोगत अभिव्यक्तियों के सम्बन्ध के बिना सामाजिक तत्त्वों का पूरा परिचय ही प्राप्त नहीं होता। किन्तु तो भी यह कहा जा सकता है कि

1. वही, प. 7
समाज - वैज्ञानिक सम्प्रदाय के व्यक्तियों के रूप में नहीं लेते बल्कि मात्र तथ्यों के रूप में लेते हैं। उनके लिए विचार - धाराएँ या नैतिक व्यवस्थाएँ मानवीय व्यवहार के प्रकार मात्र हैं जिनके कारणों को और परिणामों को वे समझना चाहते हैं। इस प्रकार मानवीय वस्तु तथ्यों का रूप एवं प्रमाणीकृत ज्ञान होने के कारण समाज-विज्ञान मौलिक अर्थ में विज्ञान सिद्ध होगा।”

आगे उनका मानना है कि समाज - विज्ञान मानवीय आत्मज्ञान से सम्पूर्ण है क्योंकि उसका विषय तथ्यात्मक भले ही हो पर जड़ नहीं है, चेतन है। मानवीय सत्ता होने के कारण उसका रूप उसकी चेतना की अभिव्यक्ति है, उसकी आत्मकृति है, न कि एक प्रकृति - प्रदर्शन नियत स्वभाव के अनुसार देशकाल में कारण - परतन्त्र अधेतन विषय। वस्तुतः सामाजिक मानव व्यवस्थातंत्र जगत् का प्राणी होता है। समाज - विज्ञान को अपना मुख्य विषय मानवीय बोध को ही बनाना चाहिए। समाज का तथ्य चेतनात्मक ही होता है। इस बात को और स्पष्ट करते हुए पाण्डेय जी कहते हैं कि “समी व्यक्ति अपने को एक वृहत्तर बोध - परम्परा और उससे अविलम सम्बन्धात्मक परिस्थिति से जुड़ा पाते हैं। यदि इस बोध - परम्परा की संस्कृति और सम्बन्ध - व्यवस्था को समज कहा जाये तो यह कहना अनुचित न होगा कि मनोबृह मनुष्य - व्यक्ति एक सार्वजनिक - सामाजिक विश्व के निवासी है जिसकी एक बाहरी रूप - रचना होती है और एक आंतरिक चेतना।”

इस सामाजिक परिवेशक का सम्बन्ध इतिहास के परिवेशक से जुड़ता है क्योंकि इसी इतिहास के क्षेत्र में चेतना, परिस्थिति, कर्म और लक्ष का दृष्टि बना रहता है। वे मानते हैं कि “इतिहास मानवीय मूल्य साधना का इतिहास है। मात्र भौतिक परिवर्तनों का कार्य - कारण - भाव के अनुसार कालिक क्रम में आविर्भाव और तिरुवृह इतिहास नहीं है। ..... इतिहास का मूल अविद्यासामाजिक चेतना ही रहती है, जैसे चित्र का कलेवर रंग ही होते हैं यद्यपि रंग चित्रपट पर लगाये जाते हैं। ..... सामाजिक परम्परा में वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक विकास लक्षित होता है, और यह मानव स्वभाव पर आधारित है। इस विकास के साथ ही समाज-रचना का विकास माना जाता है।”

1. वहीं, पृ. 8
2. वहीं, पृ. 12
3. वहीं मोनिल ब्रह्म उपाध्य, पृ. 13
समाज-रचना में विज्ञान और प्रविधि की अवस्था के अनुरूप अर्थ व्यवस्था को निर्माणक मानने वाले समाज शास्त्री भी रहे हैं। पाण्डेय जी के शब्दों में कहें तो “.......... सामाजिक चेतना को विश्वासकर्तार चेतना की समान अर्थात्मक विषयों से परिमापित समाज-विकास का जा रहा है”। आगे ये मानते हैं कि “समाज यदि सत्य-विश्लेष पदार्थ है तो द्रव्य, गुण और कर्म के अन्तर्गत उसकी कल्पना करनी होगी। यदि शरीर और आत्मा की इकाई के रूप में मनुष्य की सत्ता और द्रव्यव व्यक्तिशं सिद्ध हैं, तो उनमें समाज का हृदय और कर्मों में समाज का वृत्ति सिद्ध होता है। यह समुदाय-सिद्ध धर्म एक प्रकार का सामाजिक विकास ही हो सकता है जैसे नामा समाज-विषयों का साधन। इसलिए समाज में स्वतंत्रता के लिए सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती। सत्ता की व्यक्तियों की होती है। समाज उनके समुदाय का प्रत्यय है जो उनके सामाजिक धर्मों से निर्णयित होता है। समाज का अर्थ समुदायात्मक और साध्यात्मक होने से उसका प्रत्यय किसी सत्ताशाली धर्म का नहीं है, बल्कि व्यवहार के विशेषण से एक नियामक स्वभाव की कल्पना है। ............ एक मत के अनुसार समाज की रचना पर ही उसकी संस्कृति या जीवन-विधा आपातित है।” मानव समाज की व्यवस्था हमेशा उसके स्वरूप और लक्ष्य से आबद्ध रहती है। उससे पुर्णक उस व्यवस्था की कोई सत्ता नहीं होती। सारे सामाजिक तथ्यों का समक्ष सार्वजनिक अन्तर्माय से रहता है। उनके आकार या रूप की सार्थकता में एक गहरा संकेत छिपा रहता है। जब मनुष्य को समाज का बोध हुआ तब उसका मूल भविष्य अपनी स्वतन्त्रता या मुक्ता के हद-दृष्टिकोण प्रयासों में समिलित हुआ। अपने प्राकृतिक रूप में उसका बोध परतन्त्रता का बोध नहीं रहा अपितु उस परतन्त्रता से मुक्त का हद-विनाई चला। इन बातों की चर्चा के साथ गोविंद चन्द्र पाण्डेय ने ‘भारतीय एवं आधुनिक (जिसे यूरोपीय भी कहा जा सकता है) समाज-निरुपण की दृष्टियों के अन्तर्गत या मुख्य भूमिका तत्त्व दर्शन की मानते हैं।’ वे स्पष्ट करते हैं कि “भारतीय दृष्टि के अनुसार मनुष्य संसारी आत्मा है, न कि तर्क समर्थ पशु और उसे अपने वातावरिक हिताहित का ज्ञान लोकतार प्रस्ता या आगम से ही हो सकता है। प्रत्येकवादी आधुनिक दृष्टि के लिए लोकतार या अद्वैत सत्ता की कल्पना

1. गोविंद चन्द्र पाण्डेय, पृ. 14
2. गोविंद चन्द्र पाण्डेय, पृ. 15-16
निःस्रामण है। प्राकृतिक प्राप्ति के रूप में मनुष्य अपनी तर्क-शक्ति पर आधारित नीति के
अनुसार समाज - व्यवस्था की कल्पना करता है, जो कि उसके ज्ञान एवं परिस्थितियों
के इतिहास के अनुसार बदलती है। पारम्परिक भारतीय दृष्टि के अनुसार प्राकृतिक
बन्धन में अपने को मूला हुआ मनुष्य आर्थ प्रज्ञा के द्वारा अवतारित स्थान सत्य या धर्म
के अनुसरण से ही कृत्तिकृत हो सकता है। धर्म और प्राकृतिक प्रवृत्तियों का सम्बन्ध उसके
लिए अनिवार्य है। आंदर्श और स्वर्ग के इस सम्बन्ध से ही उसकी समाज - व्यवस्था बनती
है।"1 इस विश्लेषण के बाद ये भारतीयता के क्रम में समाज - व्यवस्था, निरुपन आदि
के सम्बन्ध में मुख्य रूप से 6 बिन्दुओं का उल्लेख करते हैं। "1. सामाजिक ज्ञान को
आलापज्ञान की बिधा माननी चाहिए, न कि प्रकृति विज्ञान का अनुचार। 2. समाज का
स्वरूप प्रत्यायमक और आंदर्श संलग्न है, न कि वस्तुतायमक। 3. समाज की
ऐतिहासिकता की अवधारणा उसकी विज्ञान - विषयता की अवधारणा से असमंजस है।
4. सामाजिक सत्य और रचना सामाजिक चेतना पर निर्भर करती है और सामाजिक
चेतना का मूलविन्दु आत्मविश्वय दृष्टि कहीं जा सकती है। समाज के इन पक्षों का
सम्बन्ध इद्द्वत्तम है। विवेक संगत अभीष्ट लक्ष्य ही मूल्य हैं जो कि आलस्वातन्त्र्य
के ही आधारित भेद हैं। मूल्य पर्ययण और उसकी परस्मय अर्थात संस्कृति ही इतिहास
का मुख्य सम्बन्ध है। 6. भारतीय समाज की दृष्टि उसकी सांस्कृतिक रचना में है
और उस परम्परा में है और उस परम्परा का रथायी और मूल स्वर आध्यातमिक
अनुसंधान पर आधारित धार्मिक श्रद्धा है।"2

वस्तुत गौतम बुद्ध ने ही इस आलमवाद एवं धर्मवाद का विरोध किया था।
जनना सामाजिक जाति भेद का विरोध एवं पुनर्जन्मवाद का विरोध किया तथा
परस्मयर रचना का या ईश्वरवाद का विशेष किया। मनुष्य जाति के दुःख का कारण इस
संसार का माना अपने मूल स्वरूप में नासिक कहा जाने वाला जन-आनन्दलाल संस्थाओँ
के निकाय ने प्रत्ययवादी ज्ञाति के धर्म के ज्ञानों में वायर्म अन्वेषण की प्रक्रिया में वायर्म
हुआ। यहीं विपरीत की ऊपरियो भी बीमार होने की प्रक्रिया वैज्ञानिक नहीं रह गई।
सम्बन्ध ने भी परस्मयर स्वरूप का, आलमवाद का, पुनर्जन्मवाद और भाग्यवाद का
पुनर्स्वरूपक किया। ईश्वर की नयी सिरे से रूपांकन किया। उनका अद्वृत्त, चिर सत्य

1. वही गोविन्द चन्द्र पाण्डेय , ३. २९
2. वही गोविन्द चन्द्र पाण्डेय , ३. २९
नये आयाम में मानव अनुभूति में स्वरूप ग्रहण किया। आत्मा की बोध अभी भी बनी रही। सांस्कृतिक विकास की परम्परा से उन्होंने नाता नहीं रखा, वरन् उन्होंने प्रत्यक्षावदों की तरह समाज के सत्य को पहचाना उसके वैसम्य और तिक्कता का अनुभव किया तथा सामाजिक समानता के प्रतिपादन हेतु बड़े प्रेक्षानिकता तरक के साथ परम्परातु उणसामाजिक विज्ञानो की निर्धारित का सामने रखा। एक सबल तथापि कार्य दृष्टि से उन सन्तों ने पूरे समाज का वर्तमान्या त्यात्मक मूल्यांकन किया। उन्होंने एक नयी सर्व समता नैसर्गिक नैसर्गिकता की सहायता का प्रयास किया। धर्म, ईश्वर, अदृश्य सत्य एवं परम्परात सत्य कंब बदला, समृद्धि की चेतना से अलग उसे नहीं रचा फिर भी उन्होंने धर्म का एक नया विश्लेष बनाये रखा। ईश्वर आत्मा, माया, विज्ञान, योग, शृंगार आदि की व्याख्या या रचना में उनकी दृष्टि उत्तमावधी, सूक्ष्म ही रही है लेकिन उनके बोध का दृढ़ता बढ़ा लोकनयन्त्र एवं लोक परिवर्तन रहा है। समाज - व्यवस्था के विश्लेषण एवं मूल्यांकन के सन्दर्भ में उनकी दृष्टि एवं उनका जीवन - दर्शन प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक एवं गृहामूलान स्थान है। उसमें सार्वजनिकता के आदर्श के साथ वर्तमानस्थता एवं वैज्ञानिकता रही है। सभी सामाजिक - विज्ञानों का उन सन्तों ने अपने मानव की सीमा में मूल्यांकन किया। परम्परात्त भारतीय समाज - व्यवस्था एवं संस्कृति का गोह उन्हें नहीं था परन्तु वे प्रामाणी जीवन मूल्यों से यूक्त सर्वसम मानव समाज के पक्षधर थे। इसके लिए उनका सामाजिक दृष्टि जीवन एवं सार्थक था। उसमें प्रागैतिहासिक थी। सामाजिक चेतना का आत्मवृत्त था। गोविन्द चन्द्र पाण्डेय भी भौतिकवादी विचारों से सहमत नहीं दिखायी देते उन्होंने हमेशा धर्म और संस्कृति की परम्परा का फक्त लिया है। उनका मानना है कि "समाज अथवा संस्कृति की भौतिक वादी व्याख्या दृष्टिकृत नहीं नैतिक तो होती। समाज किसी भौतिक उपादान की संरचना नहीं है। वह एक कर्मपर्याप्त व्यवस्था है तो संस्कृति उसकी समावच्छ मूल्यव्यवस्था। मूल्य-व्यवस्था के अनेक आयामों और सर्तों में सबसे गहरा है धार्मिकता का मूल्य। कम-से-कम भारतीय संस्कृति की धर्म प्राणता तो प्रस्तुत ही है। धर्म से अविभक्त समाज-व्यवस्था के सन्दर्भ में परिवर्तन का प्रश्र विशेष रूप से उत्तरदाता है।" 

सन्तों ने एक नये धर्म का विश्लेष तो दिया किंतु समाज-व्यवस्था को उससे अभिमत नहीं माना। उसका अलग अस्तित्व माना। उसी परम्परात सामाजिक

1. यही, पृ. 87
विमेद परक व्यवस्था के भंजन हेतु ही उन्होंने धर्म, ईश्वर, मोक्ष, बैकुण्ठ, तारण-तिरण आदि को या तो इनकार किया या परम्परा से मिन्न एक नये आयाम में रच डाला। उनका जीवन - दशन ही मिन्न हुआ। सन्तों का सामाजिक व्यवस्था एवं वस्तुस्थिति का परवर्तक्षण आधुनिक कालीन समाज शास्त्रीय पड़द लो था पर परोक्षवादी नहीं था। प्रत्यक्षवादी था जिस दृष्टि के कारण उसने समाज की यथार्थ विषमता का मूल्यांकन किया। जिस रूप में गोविन्द चन्द्र पाण्डेय धर्मवादी एवं परम्परावादी हैं, उस रूप में भक्तिकालीन भक्त नहीं थे। बहुत कुछ मायने में सन्तों का दृष्टिकोण वैज्ञानिक था। वे परम्परित बैकुण्ठ या स्वर्ग की मान्यता को बढ़े सजीव तर्क से इनकार करते हैं। कविर के इस कथन को उद्धृत किया जा सकता है —

चलन चलन सब कोठ कहै, ना जानी बैकुण्ठ कहाँ रे।
जोजन परिनिर्म न जाँचैं, बातने ही बैकुण्ठ बखाने।
कहै कविर यह कहिए काहि, साधु संगमति बैकुण्ठहि आहि।

या
राम मोहि तरिक कहाँ दे जैजियोः;

तारण - तिजण तबे लगि कहिए, जब लगि तल नहीं जाना।
एक राम देखा सबहिन में, कहै कविर मन माना।

वे बैकुण्ठ का अस्तित्व आँख के प्रत्यक्ष योग से बाहर नहीं मानते। इस कल्पना मूलम अनुमानित ज्ञान के वे पक्षधर नहीं हैं। उनका सीधा प्रश्न परम्परा से है कि उस बैकुण्ठ को किसने देखा? जब मरने पर ही स्वर्ग या बैकुण्ठ का दर्शन सम्भव है, इन नंगी आँखों से देखा नहीं जा सकता तो फिर उसका अस्तित्व क्या है? वे तो बढ़े तर्क के साथ कहते हैं —

जो जो गये बहुरि नहीं आये, पदवत नाहि सनदेस।
सूर नर, मुनि अरु पीर औलिया देवी देव गणेस।

247
जोगी जगम जो सन्यासी दिगम्बर दरबेस्।
कोउ रहीम कोउ राम बखाने कोउ कहे आदेश।
कहत कबीर अन्त नहीं पढ़हं बिनु सतगुरु उपदेश।।

कबीर या सन्त इन कालपिक मान्यताओं पर कैसे विश्वास करें। उनके बोध की विश्वसनीयता क्या है? दृश्य जगत् में उस अदृश्य की सत्ता को बिना किसी साक्ष्य के कैसे मान लें। अपनी आध्यात्मिक विचारना में भी ये सन्त बड़े परिवर्तनवादी हैं और बोध की प्रमाण-धर्मिता के पक्षपात हैं।

सन्तों की सामाजिक दृष्टि व्यवहारवादी और अव्यवहारवादी दोनों हैं।
ईश्वर की चेतना, धर्म की बदली चेतना, जीवन-जगत की मायापरक व्याख्या में ये सन्त भी अव्यवहारवादी या व्यतिरिक्त ही होते जान पड़ते हैं, लेकिन सामाजिक वैषय्य की अभिव्यक्ति में इनकी दृष्टि न्यपद यथार्थवादी और वस्तुनिष्ठ रहती है। पीछे अनेक प्रसंगों में उनकी तार्किकता तथा सामाजिक मूल्यहीनता का मिशाल मिलता है। इन सन्तों के तर्क अकालता एवं वैज्ञानिक उपन्यास दृष्टि में होते हैं तथा दृष्टान्त लोक से काफी परिचित होते हैं (कुछ उदाहरणों से उनकी इस सामाजिक दृष्टि का उल्लेख किया जा सकता है। ये सन्त अनुभव के सत्य की आलोचना करते हैं। दरिया दास का एक पद दर्पण है—

जा के उर उपजी नहि भाई। सो का जाने पीर परह।।
व्यावहार जाने पीर की सार। हार गार क्या लख़ि बिकार।।
जन दरिया जानेगा सोई। जाके प्रेम की भाल कलेजे पोई।। दरियादास

ये सन्त कितने व्यवहारवादी हैं। वे सामाजिक प्रयोग के बिना ज्ञान के अस्तित्व को नहीं मानते। पल्लू दस्त के निमन पद से इसका बोध होता है—

इलमपापा पर अमल नहीं, अमल बिनु इलम खाक है जी।।
इलम पढ़े उदेर अमल करे, उसके हम तो मुस्ताक हैं जी।।
बेहद कबीर तौर हद रहे, उसका तो मूँह नापाक है जी।।

ब्राह्मण, अब्राह्मण, चूड़, हिन्दू और मुस्लिम के सामाजिक अन्तर को इन सन्तों
ने महसूसा तथा अकाद्य तर्क से उनके बीच अन्तर को इन्कार किया। यह तत्कालीन समाज का यथार्थ है, सार्वजनीन है केवल अनुमान नहीं, कल्पना नहीं। ब्राह्मण और मुसलमानों की अजनबीयत को पहचानने हुए पलटूदास कहते हैं —

बामिन तो भये जनेउ को पहिरि के,
बामिनी के गले कुछ नाहीं देखा ।
आधि सूद्रिनी रहै घर के बीच में,
करे तुम खाह यह कौन लेखा ॥
सेख की युवति से मुसलमानी भई,
सेखानी की नाहीं तुम कही सेखा ।
आधि हिन्दुर्हनि रहे घरे के बीच में,
पलटू अब दुहुन के मारू मेखा ॥

इस प्रकार के अनेक वस्तुनिष्ठ सामाजिक सत्य पिछले अध्यायों में उद्धृत हैं। ये समाज शास्त्री नहीं थे किंतु समाज की विविध विषयताओं, अन्याय एवं शोषण के प्रति फिक्रवान थे तथा उस विचार को समाज में लाना चाहते थे जिससे इन अन्यायों का विरोध किया जा सके और शोषण से मुक्त समाज की रचना की जा सके। मौलिक अधिकारों से बचना जन को जीवन - मूल्य प्रदान किया जा सके। इसके लिए शोषण और अन्याय के प्रति अजनबी व्यक्ति को सही बोध से जोड़ना भी था।

------------

249